6572

तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक ११ : मार्च १९८२

बनारसी साड़ी
इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

Prakash Trading Company

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram: PEARLMOON Telephone: 22-4110 22-3323

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयरं

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष ५ : अंक ११

मार्च १९८२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी - २५, कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५, रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७००००७

सूची

खरतरगच्छ का जैन जगत को योगदान ३२५

जैन धर्म का प्रसार ३२८

ब्राह्मण और श्रमण ३३६

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ३४०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ३५२

तित्थयर

संवादपत्र रजिस्ट्रेशन (केन्द्रीय) विधि के (१९५६) ८ न० धारा के अनुसार प्रदत्त विवृति :

प्रकाशन स्थान :	कलकत्ता
प्रकाशन अवधि :	मासिक
मुद्रक का नाम :	गणेश ललवानी (भारतीय)
ठिकाना :	पी० २५ कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता-७
प्रकाशक का नाम :	गणेश ललवानी (भारतीय)
ठिकाना :	पी० २५ कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता-७
सम्पादक का नाम :	गणेश ललवानी (भारतीय)
ठिकाना :	पी० २५ कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता-७
स्वत्वाधिकारी का नाम :	जैन भवन
ठिकाना :	पी० २५ कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता-७

मैं, गणेश ललवानी, घोषणा करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरे ज्ञान एवं विश्वासानुसार सत्य है ।

गणेश ललवानी

१५-३-८२ प्रकाशक का हस्ताक्षर

खरतरगच्छ का जैन जगत को योगदान

श्री चाँदमल सिपाणी

महाराज दुर्लभराज की राजसभा में आचार्य वर्धमान सूरिजी और श्री जिनेश्वरसूरिजी का चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। चैत्यवासी इस शास्त्रार्थ में पराजित हुए और श्री दुर्लभराज ने उन्हें 'खरतर' की उपाधि से विभूषित किया। तब से अर्थात् संवत् १०७० के लगभग पाटण में खरतरगच्छ का नामकरण हुआ। वर्त्तमान श्वेताम्बर गच्छों में यह सब से पुराना है।

श्री जिनेश्वरसूरिजी से श्री जिनपतिसूरिजी तक प्रायः सब ही आचार्यों ने चैत्यवास का विरोध कर सुविहित मार्ग का प्रचार किया। यह खरतरगच्छ की सबसे बड़ी सेवा जैन जगत् को है। स्व० मुनि जिनविजयजी ने श्री जिनेश्वर सूरिजी के प्रभाव के बारे में लिखा है कि—

"श्री जिनेश्वरसूरि के प्रबल पांडित्य और प्रकृष्ट चरित्र का प्रभाव न केवल उनके शिष्य समूह में ही प्रचारित हुआ अपितु तत्कालीन अन्यान्य गच्छ एवं यति समुदाय के भी व्यक्तियों ने इनके अनुकरण में क्रियोद्धार और ज्ञानोपासना आदि की विशिष्ट प्रवृत्ति का बड़े उत्साह के साथ उत्तम अनुसरण किया। जिनेश्वरसूरिजी के जीवन कार्य ने उस युग परिवर्त्तन को सुनिश्चित स्वरूप दिया। तब से लेकर ६०० वर्षों में पश्चिम भारत में जैन-धर्म का जो साम्प्रदायिक और सामाजिक स्वरूप का प्रवाह प्रचलित रहा, उसके मूल में जिनेश्वरसूरिजी का जीवन सबसे अधिक एवं विशेष प्रभाव रखता है।"

खरतरगच्छ में बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए जैसे श्री जिनचंद्रसूरिजी, श्री अभयदेवसूरिजी (नवांगी टीकाकार), श्री जिनदत्तसूरिजी, श्री जिनकुशलसूरिजी, श्री जिनप्रभसूरिजी, श्री जिनभद्रसूरिजी, योगी आनंदघनजी, श्रीमद् देवचन्द्रजी, श्री चिदानन्दजी आदि। इस प्रकार कई प्रतिभाशाली यति भी हुए हैं। इन सब ही आचार्यों ने विशाल ग्रन्थों की रचना कर जैन साहित्य को समृद्धिशाली बनाया। स्व० श्री जिनविजयजी लिखते हैं कि—

"खरतरगच्छ में अनेक बड़े-बड़े प्रभावशाली आचार्य, बड़े-बड़े विद्यानिधि उपाध्याय, बड़े-बड़े प्रतिभाशाली पंडित मुनि और बड़े-बड़े यांत्रिक, तांत्रिक, ज्योतिर्विद, वैद्यक, विशारद और कर्मठ यति हुए जिन्होंने अपने समाज की उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठा के बढ़ाने में बड़ा योग दिया

है। सामाजिक और साम्प्रदायिक उत्कर्ष के सिवाय अनुयायियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी समृद्ध करने में असाधारण उद्यम किया और इसके फलस्वरूप आज हमें भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों का निरूपण करने वाली छोटी-बड़ी सैकड़ों-हजारों ग्रन्थ कृतियाँ जैन भण्डारों में उपलब्ध हो रही हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों की यह उपासना न केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु समग्र भारतीय संस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक और दर्शन शास्त्र के अगणित जैन ग्रन्थों पर उन्होंने अपनी पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ आदि रचकर तत्तद ग्रन्थों और विषयों के अध्ययन कार्य में बड़ा उपयुक्त साहित्य तैयार किया है।"

इन आचार्यों के प्राकृत, संस्कृत आदि साहित्य सेवा के सम्बन्ध में "राजस्थान का जैन साहित्य" नामक पुस्तक के लेखों व ग्रन्थ सूची से पूर्णतया स्पष्ट ज्ञान होता है।

साहित्य निर्माण में योगदान के साथ-साथ खरतरगच्छ के आचार्यों, यतियों व श्रावकों ने कई जगह ज्ञान भण्डार भी स्थापित किए। इनमें श्री जिनभद्रसूरि द्वारा स्थापित जेसलमेर का ज्ञान भंडार तो आज अपने आप में अनूठा व ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसके अलावा जेसलमेर के यतियों, उपाश्रयों व थारूशाह के ज्ञान भण्डार भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार बीकानेर आदि में भी ज्ञान भण्डार स्थापित हुए।

साहित्य निर्माण तथा ज्ञान भण्डारों की स्थापना के अतिरिक्त खरतरगच्छ के आचार्यों व यतियोंने कई मंदिर, मूर्त्तियों व जैन तीर्थों के निर्माण व प्राचीन मंदिरों के जिर्णोद्धार में बड़ा योगदान दिया है। इन आचार्यों द्वारा निर्मित मंदिर, मूर्त्तियाँ आज भी विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। जेसलमेर, बीकानेर आदि स्थानों में खरतरगच्छ के श्रावकों ने मन्दिरों का निर्माण कराया व इन आचार्यों द्वारा इनकी प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। कापरड़ा, शत्रुञ्जय, गिरनार, राणकपुर, सिरोही आदि कई स्थानों पर खरतरगच्छ के मन्दिर हैं।

इन सब ही कार्यकलापों के द्वारा सरस्वती की उपासना के साथ-साथ स्थापत्य कला, मूर्त्तिकला, चित्रकला का भी जो संवर्धन और रक्षण खरतरगच्छ के आचार्यों ने किया वह आज भी प्रत्यक्ष है।

खरतरगच्छ का प्रभाव बड़ा विस्तृत रहा है। राजस्थान के अलावा मध्य-प्रदेश, बंगाल, आसाम, गुजरात, दक्षिण भारत में भी इस गच्छ के श्रावकों का निवास है। इतना अवश्य है कि स्थानकवासी, तेरापंथी के प्रचार-प्रसार के कारण बहुत से श्रावक इनके अनुयायी हो गये। और कहीं-कहीं तपागच्छ के प्रभाव से उनकी क्रियायें करने लग गये। फिर भी खरतरगच्छ का प्रभुत्व व प्रभाव आज भी परिलक्षित होता है। स्व० मुनि जिनविजयजी ने भी कहा है कि—

"श्वेताम्बर जैन संघ जिस स्वरूप में आज विद्यमान है, उस स्वरूप के निर्माण में खरतरगच्छ के आचार्य, यति और श्रावक समूह का बहुत बड़ा हिस्सा है। एक तपागच्छ को छोड़कर दूसरा और कोई गच्छ इसके गौरव की बराबरी नहीं कर सकता। कई बातों से तो तपागच्छ से भी इस गच्छ का प्रभाव विशेष गौरवान्वित है। भारत के प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण रखनेवाली राजपूताने की वीर भूमि का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास, ओसवाल जाति के शौर्य, औदार्य, बुद्धि-चातुर्य और वाणिज्य-व्यवसाय-कौशल आदि महद् गुणों से प्रदीप्त है और उन गुणों का जो विकास इन जाति में इस प्रकार हुआ है वह मुख्यतया खरतरगच्छ के प्रभावान्वित मूल पुरुषों के सदुपदेश तथा शुभाशीर्वाद का फल है।"

खरतरगच्छ की पट्टावलियाँ, प्रशस्तियां, शिलालेख, विज्ञप्तियां, ऐतिहासिक रास आदि इतने इधर-उधर बिखरे पड़े हैं कि उन्हें संग्रहित किया जाए तो उनसे विस्तृत और व्यवस्थित कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। यदि ऐसा सम्भव हुआ तो अतीत के कई ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं और जिससे जैन समाज और अधिक गौरवान्वित होगा। आवश्यकता है इस ओर ध्यान देकर कार्य करने की।

जैन धर्म का प्रसार

[पूर्वानुवृत्ति]

श्री के० रिषभ चन्द्र

तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस में हुआ था। उन्होंने सम्मेत शिखर पर दक्षिण बिहार में मुक्ति प्राप्त की थी। उनका निर्वाण ई० पू० ७७७ में हुआ था। उनका धर्म चातुर्याम के नाम से प्रसिद्ध था। पालिग्रन्थ में इसके उल्लेख हैं। गौतम बुद्ध के चाचा बप्प शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक थे।[१५] अतः वे पार्श्वनाथ परम्परा के ही उपासक थे। भगवान महावीर के पिता भी इसी परम्परा के अनुयायी थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म की स्थापना के पूर्व निर्ग्रन्थ संप्रदाय काफी सुदृढ़ हो चुका था और विद्वान लोग सर्व सम्मति से पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उनके काल में उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि में जैन धर्म सुप्रचलित था यह कहने की आवश्यकता नहीं।

महावीर काल

चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए जिनका कौटुंबिक सम्बन्ध मिथिला के लिच्छवी गणतन्त्र और वैशाली से था। उन्होंने पूर्व परम्परा को एक अद्भुत शक्ति प्रदान की थी। वे ज्ञातृवंश के थे और वैशाली उनका जन्म स्थान था। उनका निर्वाण पावापुरी में ई० पूर्व ५२७ में हुआ था। उन्होंने पार्श्वनाथ के चातुर्यामों को पाँच व्रतों में बदला। उन्होंने ई० पू० छठी शती के द्वितीय और तृतीय पाद में स्थान-स्थान पर भ्रमण करके अपने उपदेश दिए थे। उनके द्वारा जिन पूर्व और पश्चिमी प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं : पूर्व में अंग, बंग, मगध, विदेह तथा कलिंग। पश्चिम में काशी, कोसल और वत्स देश। मगध के राजा श्रेणिक बिम्बिसार तथा कुणिक अजातशत्रु का जैन धर्म के साथ जो सम्बन्ध रहा वह सुविदित है। वैशाली के गण प्रमुख चेटक महावीर के मातृपक्ष से सम्बन्धित थे। गणराज्य में उनका स्थान और प्रभाव सर्वोपरि था। उनका रिश्ता सिन्धु सौवीर के राजा उदयन और उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत तथा कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ था। इस प्रभाव के कारण उन प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार में

---

[१५] अंगुत्तर निकाय, चतुक्कनिपात, वग्ग ५।

काफी प्रेरणा मिली होगी। महावीर के निर्वाण के अवसर पर लिच्छवि और मल्लकी राजाओं का वहाँ पर उपस्थित होना उनके जैन धर्मानुयायी होने का प्रमाण है।

महावीर के पश्चात्

महावीर के पश्चात् भी मगध के सम्राटों के साथ जैन धर्म का अच्छा सम्बन्ध रहा है। अजातशत्रु ने वैशाली गणराज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। काशी-कोशल का मगध में समावेश हो गया। ऐसे विशाल मगध साम्राज्य के नन्द राजाओं के जैन होने का वर्णन आता है। इसकी पुष्टि खारवेल के शिला-लेख से भी होती है। आदि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के शिष्य बने थे और उन्होंने समाधिमरण किया था ऐसी भी एक परम्परा है। अशोक भी आरम्भ में जैन थे और बाद में बौद्ध हो गए। संप्रति एक प्रभावशाली जैन सम्राट् थे। उनके धर्म प्रचार के कारण उन्हें जैन अशोक कहा जाता है।

मौर्यकाल के पश्चात् आगे के वर्षों में भारत में जैन धर्म का प्रसार किस प्रकार हुआ उसका सप्रमाण चित्र जैनों की विभिन्न वाचनाओं से सामने आता है। ई० पू० चौथी शती में प्रथम जैन वाचना पाटलिपुत्र में स्थूलिभद्र के नेतृत्व में हुई थी। तत्पश्चात् ईसा की चतुर्थ शताब्दी में एक वाचना स्कन्दिलाचार्य के सभापतित्व में मथुरा में और उसी समय अन्य वाचना नागार्जुन के प्रमुखत्व में वल्लभी में हुई थी। अन्तिम वाचना देवर्द्धि गणि के नेतृत्व में पाँचवीं-छठी शती में फिर वल्लभी में हुई थी। एक परम्परा के अनुसार बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण ई० पू० चौथी शताब्दी में भद्रबाहु, बहुत बड़े मुनि समुदाय के साथ दक्षिण में गए थे। इन वर्णनों से स्पष्ट है कि महावीर के पश्चात् दूसरी शती से जैन धर्म का प्रचार पश्चिम और सुदूर दक्षिण की तरफ होने लगा था।

सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनषांग के वर्णन से यह मालूम होता है कि उस समय वैशाली में निर्ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या विद्यमान थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के मुनि पश्चिम में तक्षशिला और दिगम्बर निर्ग्रन्थ पूर्व में पुण्ड्रवर्धन और समतट (बंगाल) तक भारी संख्या में पाये जाते थे। इस प्रकार इस समय तक जैन-धर्म सारे उत्तर भारत में पर्याप्त प्रमाण में प्रचलित हो गया था।

प्रारंभिक संघभेद

महावीर तथा उनके गणधरों के समय में जैन संघ में जो एकता रही वह बाद में विच्छिन्न हो गयी। जैसे-जैसे धर्म का प्रचार विभिन्न प्रदेशों में होता गया वैसे-वैसे उसमें तरह-तरह के लोगों का समावेश होता गया। समय के

साथ परिस्थितियाँ भी बदलती गयीं। इन कारणों से संघ में विभेदात्मक प्रवृत्तियाँ बढ़ती गयीं और विभिन्न गण, गच्छ और फिरकों का प्रादुर्भाव होने लगा। इससे सबसे बड़ा और विकट भेद श्वेताम्बर-दिगम्बरों का हुआ।

श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर के ६०६ वर्ष पश्चात् ई० सं० ८२ में बोटिक अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति मानी जाती है। दिगम्बरों के अनुसार श्वेताम्बरों की उत्पत्ति ई० सं० ७६ में मानी गयी है। दोनों संप्रदायों को मान्य यह स्पष्ट भेद महावीर के ६०० वर्ष पश्चात् ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। वैसे भेद के लक्षण बहुत पूर्व कालीन प्रतीत होते हैं। महावीर के शिष्य गौतम और पार्श्व परम्परा के श्रमण केशी का संवाद इसी ओर संकेत करता है, हालांकि केशी ने महावीर के सिद्धान्तों को अपना लिया था। इसके पश्चात् हमें सात निह्नवों के सैद्धान्तिक भेदों का पता चलता है। प्रथम निह्नव जमाली तो महावीर का समकालीन था। इसके पश्चात् अन्य छ निह्नव हुए जिनकी कालावधि महावीर के पश्चात् ५८४ वर्ष तक की रही है। सिद्धान्त भेद होने के कारण वे महावीर से अलग पड़ गये। आठवें निह्नव बोटिक से दिगम्बर संप्रदाय की उत्पत्ति मानी जाती है। महावीर के पश्चात् क्रमशः गौतम, सुधर्मा और जंबू स्वामी दोनों संप्रदायों को समान रूप से मान्य रहे हैं। उनके पश्चात् आचार्य परम्परा में भिन्नता आ जाती है। श्वेताम्बरों के अनुसार पाटलिपुत्र की वाचना में भद्रबाहु सम्मिलित नहीं हुए और स्थूलिभद्र की सहायता से ही वाचना की गयी। दिगम्बरों के अनुसार अकाल पड़ने के कारण भद्रबाहु अपने शिष्य समुदाय के साथ दक्षिण की तरफ चले गए।[१६] बाद में लौटने पर उनलोगों ने देखा कि उत्तरी क्षेत्र के साधु समुदाय में परिस्थितिवश काफी शिथिलता आ गयी है। उनको ये नयी प्रवृत्तियाँ स्वीकृत नहीं हुईं और इस प्रकार सम्प्रदाय भेद प्रस्फुटित हो गया। वाचना में भद्रबाहु का श्वेताम्बर मतानुसार शामिल नहीं होना भी एक आपत्ति जनक मुद्दा ही बना रहता है। इस कारण से वाचना में कुछ कमी अवश्य ही रही क्योंकि उन्हें ही सिर्फ चौदह पूर्वों का ज्ञान था। इस तरह से हम देखते हैं कि समय-समय पर भेदात्मक प्रवृत्तियाँ सामने आती रही हैं, परन्तु स्पष्ट भेद तो ई० सं० की पहली शताब्दी में ही हुआ ऐसा दोनों सम्प्रदायों की मान्यता से प्रकट है। श्रुत की परम्परा मौखिक रूप से आ रही थी। दो तीन वाचनाओं के द्वारा उसे समय-समय पर नष्ट होने से बचाया

[१६] श्वेताम्बरों की मान्यता है कि वे ध्यानार्थ नेपाल गए थे।

गया। अन्तिम वाचना देवर्द्धि गणि के सभापतित्व में छठी शती में वल्लभी में हुई। उस समय श्रुत को लिखित रूप दिया गया। इस लिखित रूप से श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की भेद भावना को और भी शक्ति मिली। इस प्रकार उत्तरोत्तर काल में यह भेद प्रबल बनता ही गया और इसके फलस्वरूप गुरु परम्परा भी भिन्न-भिन्न हो गयी तथा दोनों का साहित्य भी अलग-अलग।

श्वेताम्बर-दिगम्बर के अलावा यापनीय नामक एक अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ जो दक्षिण में ही पनपा। कहा जाता है कि दूसरी शती में एक श्वेताम्बर मुनि श्री कलश ने कल्याण नगर में यापनीय संघ की स्थापना की। यापनियों का उल्लेख बाद की कई शतियों तक साहित्य और लेखों में होता रहा है। यह संघ श्वेताम्बर-दिगम्बर का समन्वय रूप था। इसका मुख्य अड्डा कर्नाटक में बना रहा। पाँचवी-छठी शती में यह वहाँ पर सुदृढ़ता से जम गया था।

दिगम्बर सम्प्रदाय का विविध संघों में विभाजन इस प्रकार हुआ है। उनका पुराने से पुराना मूल संघ है जिसकी स्थापना दूसरी शताब्दी में हुई थी। पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरु आचार्य अर्हदबलि ने मूल संघ की चार शाखाएँ स्थापित की थीं। वे थीं सेन, नंदी, देव और सिंह।

पाँचवीं शती में मदुरा (दक्षिण) में वज्रनंदि ने द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। कुमारसेन मुनि ने सातवीं शती के अन्त में नंदीतट ग्राम में काष्ठा संघ को स्थापित किया। मदुरा (उत्तर) में माथुर संघ की स्थापना नवीं शती के अन्त में रामसेन मुनि ने की थी। भिल्लक संघ का उल्लेख भी आता है। विन्ध्य पर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि ने दशवीं शती के प्रारम्भ में इस संघ की स्थापना की थी। इससे भीलों द्वारा जैन धर्म को अपनाने का प्रमाण मिलता है।

श्वेताम्बरों में भी कई गच्छों की उत्पत्ति हुई। गणधर गौतम के पश्चात् पट्ट-परम्परा गणधर सुधर्मा ने संभाली थी। उनकी परम्परा में छठें आचार्य यशोभद्र हुए। उनके दो शिष्य थे संभूतिविजय और भद्रबाहु, जिनसे दो भिन्न शिष्य परम्पराएँ चलीं। संभूतिविजय की परम्परा में नाइल, पोमिल, जयन्त और तापस शाखाएँ चल पड़ीं तथा भद्रबाहु की परम्परा में ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौण्ड्रवर्धनिका और दासीखर्बटिका। सातवें आचार्य के शिष्यों की परम्परा में तेरासिय शाखा तथा उत्तर बलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उडुवाडियगण, वेसवाडियगण और कोटिकगण स्थापित हुए और उनका कई शाखाओं और कुलों में विभाजन हुआ।

आगे के वर्षों में गच्छों की स्थापना होने लगी। उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं : आठवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि ने वृहद् गच्छ की स्थापना की। खरतरगच्छ का उद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ। बारहवीं शती में अंचलगच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। और इसी शती में आगमिक गच्छ की स्थापना की गयी। तपागच्छ १३ वीं शती में स्थापित हुआ था।

उत्तरकालीन संघभेद

श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद के कारण मुनियों के आचार पर काफी प्रभाव पड़ा तथा उसमें भेदभाव बढ़ा। बाद में अन्य सम्प्रदाय, गण या गच्छ उत्पन्न हुए। उनमें इतना आचार सम्बन्धी कोई भेद भाव नहीं होने पाया। श्वेताम्बरों में वस्त्र की मात्रा बढ़ने लगी। पहले दोनों सम्प्रदायों में तीर्थंकरों की नग्न मूर्त्तियाँ समान रूप से प्रचलित थीं, परन्तु सातवीं-आठवीं शती से श्वेताम्बर मूर्त्तियों में कौपीन का चिह्न बनाया जाने लगा तथा मूर्त्तियों को वस्त्र व अलंकारों से सजाने की प्रवृत्ति भी बढ़ गयी। इस कारण इन दोनों के मन्दिर भी अलग-अलग हो गए। दोनों सम्प्रदायों में एक और प्रवृत्ति ने जन्म लिया। सामान्यतः वर्षा ऋतु में ही मुनि लोग एक स्थल पर ठहरते थे, परन्तु पाँचवीं-छठी शती से स्थायी रूप से कुछ मुनि चैत्यालयों में ठहरने लगे। इस कारण वे चैत्यवासी कहलाये और भ्रमण शील मुनि बनवासी। चैत्यवासियों में आचार शिथिलता आ गयी और धीरे-धीरे मन्दिरों में मठों में श्रीपूज्यों और भट्टारकों की गद्दियाँ स्थापित हुईं और परिग्रह की भावना ने जोर पकड़ा। एक स्थान पर ठहरने का कारण था पठन-पाठन व साहित्य रचना में सुविधा प्राप्त करना। इससे एक लाभ अवश्य हुआ, अनेक शास्त्र भंडार स्थापित हुए। ये शास्त्र-भंडार सारे भारत में फैले हुए हैं, खास तौर से गुजरात, राजस्थान तथा मैसूर में।

१५ वीं शती में मूर्त्तिपूजा विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ और श्वेताम्बरों में अलग सम्प्रदायों की स्थापना हुई। श्वेताम्बरों में लोंकाशाह ने इस मत की स्थापना की और वह आगे जाकर ढूँढिया और स्थानकवासी संप्रदाय कहलाया। इसमें मन्दिरों के बजाय स्थानक और आगमों की विशेष प्रतिष्ठा है। उनको ३२ आगम मान्य हैं तथा अन्य आगमों को वे स्वीकार नहीं करते। १८ वीं शती में आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग होकर तेरापन्थी सम्प्रदाय की स्थापना की।

दिगम्बरों में तारण स्वामी ने तारण पंथ की स्थापना १६ वीं शती में की जो मूर्त्तिपूजा का निषेध करता है। अन्य सम्प्रदायों में १७ वीं शती में

तेरापंथ और १८वीं शती में गुमान पंथ की स्थापना हुई। उनमें बीस पंथ और तेरापंथ भी प्रचलित है।

उत्तर भारत में जैन धर्म

जैन धर्म की महावीर के काल तक प्राचीन समय में क्या स्थिति रही तथा आगे किस प्रकार के संघभेद हुए उनका वर्णन करने के पश्चात् अब भारत के विभिन्न प्रदेशों में जैन धर्म का आगामी शतियों में किस प्रकार प्रसार हुआ उसका वर्णन किया जाएगा।

बिहार

बिहार के साथ जैन धर्म का सबन्ध इतिहासातीत काल से रहा है। कई तीर्थंकरों ने उसी प्रदेश में जन्म लिया तथा बीस तीर्थंकरों का निर्वाण सम्मेत शिखर पर हुआ। महावीर के स्थल-स्थल पर विहार करने के कारण इस प्रदेश का नाम ही बिहार हो गया। वहाँ से उड़ीसा में जाने का रास्ता मानभूम और सिंहभूम में से था। इन दो प्रदेशों की सराक जाति जैन धर्म की अविच्छिन्न परम्परा की द्योतक है। मानभूम के 'पच्छिम ब्राह्मण' अपने को महावीर के वंशज मानते हैं। वे अपने को प्राचीनतम् आर्यों के वंशज मानते हैं जिन्होंने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा था। वे वैदिक आर्यों के पूर्व इस तरफ आये थे। मानभूम और सिंहभूम जिलों में जैनावशेष काफी संख्या में प्राचीन काल से ग्यारहवीं शती तक के मिलते हैं। सम्राट् खारवेल के काल में मगध में फिर से जैन धर्म ने जोर पकड़ा था। वह गया के पास बराबर पहाड़ी तक आया था। शाहाबाद में सातवीं से नवीं शताब्दी तक के पुरातत्त्व मिलते हैं। राष्ट्रकूटों और चन्देलों ने भी छोटा नागपुर में राज्य करते समय जैनों के प्रति सहानुभूति रखी थी। ग्यारहवीं शती में राजेन्द्र चोल ने बंगाल से लौटते समय मानभूम के जैन मन्दिरों को ध्वस्त किया था।

बंगाल

महावीर ने स्वयं राढ़ (पश्चिमी बंगाल) में भ्रमण किया था और वहाँ पर लोगों ने उनको काफी सताया था। पहले यह अनार्य प्रदेश माना जाता था। परन्तु महावीर के प्रभाव में आने के पश्चात् इसे भी आर्य देश माना जाने लगा। प्रथम भद्रबाहु का जन्म कोटिवर्ष (उत्तरी बंगाल) में ही हुआ था। भद्रबाहु के चार शिष्यों ने जिन चार शाखाओं की स्थापना की उनके नाम बंगाल के स्थानीय नामों पर से ही दिए गए हैं, जैसे कोटिवर्षिका, ताम्रलिप्तिका, पौण्ड्रवर्धनिका और दासी खर्बटिका। तत्पश्चात् गुप्तकालीन पाँचवीं शती का पूर्व बंगाल में पहाड़पुर से एक ताम्रलेख मिला है जिसमें जिन मूर्ति

की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनषांग ने लिखा है कि बंगाल के विभिन्न भागों में निर्ग्रन्थ काफी संख्या में विद्यमान थे। पालवंश के राज्य काल की नवीं और दशवीं शताब्दियों के आसपास की प्रचुर मात्रा में जैन मूर्त्तियाँ खुदाई में निकली हैं जिनसे इतना तो स्पष्ट है कि उस काल में भी जैन बस्ती वहाँ पर काफी मात्रा में विद्यमान थी। पाल राजा स्वयं बौद्ध धर्मी थे परन्तु अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता रखते थे। उनके बाद सेनों के समय से जैन धर्म का वहाँ पर ह्रास होता गया। वे कट्टर ब्राह्मणवादी थे। पिछले करीब तीन सौ वर्षों से बंगाल में जैन लोग बसने लगे हैं परन्तु मूल बंगाली जैनों की कोई अविच्छिन्न धारा नहीं दिखती।

उज्जैन और मथुरा

उज्जैन के राजा और गणाधिपति चेटक के बीच महावीर के काल में ही सम्बन्ध हो गया था। उसके पश्चात् जैन धर्म की यहाँ पर क्या स्थिति रही स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता, परन्तु ई० पू० की प्रथम शताब्दी में वहाँ पर जैन लोग विद्यमान थे यह हमें गर्दभिल्ल और कालकाचार्य के कथानक से स्पष्ट मालूम होता है। गुप्तकालीन एक लेख के अनुसार उदयगिरि (विदिशा-मालवा) में पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा करायी गयी थी। मथुरा में प्राप्त जैन पुरातत्त्व सामग्री से यह पता चलता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी से ई० सं० १० वीं शताब्दी तक यह प्रदेश जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था। यहाँ के लेखों में कुषाण राजाओं के उल्लेख हैं। गुप्त राज्य काल के लेख भी प्राप्त हुए हैं। हरिगुप्ताचार्य तो गुप्त देश के ही पुरुष थे जो तोरमाण (छठी शती) के गुरु थे। मथुरा में प्राप्त प्राचीन जैन स्तूप कोई-कोई विद्वान महावीर से भी पूर्व का बतलाते हैं। कहा जाता है कि इसकी स्थापना सुपार्श्व-नाथ की स्मृति में की गयी थी और पार्श्वनाथ के समय में इसका उद्धार किया गया था। मथुरा के पंच स्तूपों का उल्लेख जैन साहित्य में आता है। यहीं से पंचस्तूपान्वय भी प्रारम्भ हुआ हो तो असंभव नहीं।

गुजरात

मथुरा के साथ वल्लभी में चौथी शती के प्रथम पाद में नागार्जुनीय वाचना तथा गुजरात के गिरनार पर्वत के साथ धरसेनाचार्य और पुष्पदन्त तथा भूत-बलि (षट्खण्डागम के रचनाकार) के सम्बन्ध से यह प्रतीत होता है कि इस प्रदेश के साथ जैन धर्म का सम्बन्ध ईसा की प्रथम शताब्दी से है। इससे पूर्व भी जैन धर्म का इस प्रदेश के साथ सम्बन्ध रहा है। भगवान नेमिनाथ की चर्या और मुक्ति सौराष्ट्र के स्थलों से ही जुड़ी हुई है। वल्लभी की द्वितीय

तथा अन्तिम वाचना से सुस्पष्ट है कि पाँचवीं-छठी शती में जैन धर्म इस प्रदेश में काफी सुदृढ़ हो गया था। सातवीं शती के दो गुर्जर नरेशों का इस धर्म से अनुराग था ऐसा उनके दानपत्रों से सिद्ध होता है। वनराज चावडा राजवंश के संस्थापक थे। उनसे जैन धर्म को यहाँ पर प्रोत्साहन मिला। मूलराज का बनाया हुआ अणहिलवाड़ का जैन मन्दिर आज भी विद्यमान है। राजा तोरमाण के गुरु हरिगुप्ताचार्य के प्रशिष्य शिवचन्द्र के अनेक शिष्यों ने गुजरात में जैन धर्म का प्रचार किया तथा अनेक जैन मन्दिर बनवाये।

सोलंकी राजा भीम के मंत्री बिमल शाह ने ग्यारहवीं शती में आबू पर जो मन्दिर बनवाया था वह अपनी कला के लिए जगत् प्रसिद्ध है। उन्होंने ही चन्द्रावती नगरी बसायी थी। इससे राजा भीम की जैन धर्म के प्रति कितनी सहानुभूति रही होगी यह प्रकट होता है। सिद्ध राजा और कुमारपाल के समय में तो जैन धर्म का यहाँ पर सुवर्णयुग रहा। उसी समय हेमचन्द्राचार्य के कारण जैन धर्म की जो सेवा हुई उसका प्रभाव सदा के लिए रह गया और गुजरात जैन धर्म का एक बलशाली और समृद्ध केन्द्र बन गया। १३वीं शती में वस्तुपाल और तेजपाल नामक श्रेष्ठिबंधुओं ने आबू पर एक मन्दिर बनवाया जो अपनी कला के लिए अद्वितीय है।

शत्रुंजय और गिरनार के तीर्थ क्षेत्रों को भी अलंकृत करने में अनेक सेठों और राजाओं का योगदान रहा है। खंभात का चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर, भी १२ वीं शती में बनवाया गया था और तेरहवीं शती के अन्त में इसका जीर्णोद्धार किया गया था। राजस्थान के अनेक धर्मानुयायियों ने दान देकर इस मन्दिर की समृद्धि बढ़ायी है। तेरहवीं शती में दानवीर सेठ जगडू शाह हुए। वे कच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। उन्होंने गिरनार और शत्रुंजय गिरि का संघ निकाला था। वे गरीबों को काफी आर्थिक सहायता करते थे और एक भारी दुष्काल में राजा बीसलदेव के काल में उन्होंने आसपास के राजाओं को सहायता करके प्रजा को भूख से मरने से बचाया था। पेथड़शाह भी इसी समय के आस पास हुए थे। पन्द्रहवीं शती का समय सोम सुन्दर युग कहा जाता है। आचार्य सोम सुन्दर ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए जैनों को काफी प्रोत्साहित किया था। पन्द्रहवीं शती में ही लोंकाशाह ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। सोलहवीं शती में हीरविजय सूरि जैसी एक महान् विभूति का जन्म पालनपुर में हुआ था। उनका अकबर पर अच्छा प्रभाव पड़ा था जिससे जैन धार्मिक उत्सवों के दिनों में पशु-हिंसा निषेध के फरमान बादशाह ने जारी किए थे। सोलहवीं शती जैनों में हैरक युग के नाम से प्रसिद्ध है।

[क्रमशः

ब्राह्मण और श्रमण

पूरण चंद सामसुखा

पूर्वकाल में आर्य सभ्यता के प्रतीक ब्राह्मणों का स्थान सामाजिक, धार्मिक यहाँ तक कि राजनैतिक क्षेत्र में भी सर्वोपरि था। जब भारत स्वाधीनता की लीलाभूमि थी, तब ब्राह्मण ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला इत्यादि समस्त विषयों में अन्यान्य वर्णों से बहुत अग्रसर थे व अन्य समस्त वर्णों के गुरु स्थानीय थे। भारत की उस आर्य-सभ्यता को ब्राह्मण-सभ्यता कहने में भी अत्युक्ति नहीं होगी। आज भी ब्राह्मण धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में नेतृत्व कर रहे हैं। परन्तु ब्राह्मण संस्था के साथ-साथ श्रमण संस्था भी भारत में धर्म गुरु के रूप से अपना प्रभाव विस्तार करने में कम नहीं हुई। ब्राह्मण धर्म में जहां यज्ञानुष्ठान द्वारा मुख्यतया राज्यैश्वर्यरूप ऐहिक व स्वर्गैश्वर्यरूप पारलौकिक सुख की कामना का ध्येय था, वहाँ श्रमण धर्म यज्ञ को हिंसात्मक व स्वर्गीय एवं मर्त्यसुख को क्षणिक समझ कर उसकी अभिलाषा नहीं रखते हुए जन्म-मरण के दुःख को सम्पूर्ण रूप से दूर करके अहिंसा, संयम व तप के प्रभाव से मुक्ति के अव्याबाध, शाश्वत व अक्षय आनन्द को ध्येय समझता था।

वित्तवान ब्राह्मण सम्प्रदाय के लोग जैसे शारीरिक स्नान, शौचादि को धर्म समझकर वित्तशून्य मलिन वस्त्रधारी, शारीरिक परिचर्या पर ध्यान नहीं देने वाले भिक्षोपजीवी श्रमणों को घृणा की दृष्टि से देखते थे, वैसे ही याज्ञिक हिंसा को नरकगति का कारण बतलाते हुए "स्नान शौचादि से आत्मा का मलिनत्व दूर नहीं होता है" कह कर श्रमण सम्प्रदायवाले ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व स्वीकार नहीं करते थे।

ऐसी प्रतिद्वन्द्विता ब्राह्मण व श्रमण संस्थाओं के बीच में पुराने काल से चली आती है। जैन व बौद्ध शास्त्र-ग्रन्थों में ऐसी प्रतिद्वन्द्विता का निर्देशन प्रचुर परिमाण में मिलता है जिससे यह मालुम होता है कि ब्राह्मण मलिन व कुरूप कहकर श्रमणों के प्रति घृणा प्रदर्शन करते थे और श्रमण पशुवध सहित यज्ञ व पंचाग्नि-तपस्यादि को नरक जाने का कारण बतलाकर ब्राह्मणों की निन्दा करते थे, यहाँ तक कि "ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने से ही ब्राह्मणत्व नहीं हो सकता" कहकर ब्राह्मणी के जन्म-जनित श्रेष्ठत्व को खण्डित करने का प्रयास करते थे। जैन व बौद्ध जैसी परस्पर विरोधिनी श्रमण संस्थाएं भी ब्राह्मणों की मर्यादा खण्डन करने में सहमत थीं व एक ही प्रकार की युक्ति प्रदर्शन करती

थी। यहां जैन व बौद्ध ग्रन्थों से पाठ उद्धृत करके वक्तव्य विषय को परिस्फुट करने का प्रयास किया जाता है :

जैन उत्तराध्ययन सूत्र के द्वादश अध्ययन में "हरिकेश बल" नामक एक जैन मुनि का आख्यान है। हरिकेश मुनि चांडाल कुल में उत्पन्न होते हुए भी जितेन्द्रिय, संयमी, मन-वचन-काया को गुप्त रखने वाले उग्र तपस्वी थे व एक उच्च कोटि के महात्मा गिने जाते थे। एक समय वे महामुनि एक मास के उपवास के पारण के निमित्त भिक्षार्थ निकले व ब्राह्मण राजपुरोहित के यज्ञस्थान में भिक्षा के निमित्त उपस्थित हुए। ब्राह्मण उन्हें देखते ही उनके मलिन वस्त्र व शरीर से घृणा करते हुए उन्हें ललकारते हैं व दैत्य, पिशाच, कुरूप अपशब्दों से सम्बोधन करते हुए निकल जाने को कहते हैं।[1] इन शब्दों से श्रमणों के प्रति ब्राह्मणों का उत्कट घृणा-भाव परिस्फुट हो रहा है।

श्रमणों ने अपने ग्रन्थ में हरिकेश मुनि की तर्जना करने वाले ब्राह्मणों के प्रति जातीय-मद-गर्वित, हिंसक, अजितेन्द्रिय आदि विशेषणों का प्रयोग किया है,[2] उनके ऊपर क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य आदि दुर्गुणों का आरोप किया है एवं उन्हें विद्या-विहीन, वेद के अर्थ को नहीं समझने वाला कह कर उनकी निन्दा की है। इस प्रकार ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व स्वीकार नहीं करते हुए श्रमण अपने को अहिंसक, तपस्वी, जितेन्द्रय कह कर सत्पात्र बतलाते हैं।[3] परन्तु समाज में ब्राह्मणों की प्रतिपत्ति इतनी दृढ़ हो गई थी कि श्रमणों को उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता था।

इसलिये श्रमण संस्था के आचार्य "ब्राह्मण" शब्द की परिभाषा अपने मतानुकूल यह करते थे कि अमुक-अमुक गुणों के रहने पर ही उन्हें ब्राह्मण कहा जा सकता है न कि केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही। ऐसी परिभाषा जैन व बौद्ध दोनों श्रमण संस्थाओं के धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती है।

द्वितीय जैन अंग "सूयगडांग" सूत्र में ब्राह्मण शब्द का संज्ञा-निर्देश किया गया है कि—"सब पाप-कर्मों से विरक्त, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-अरतिरति-माया-मृषा-मिथ्या-दर्शन-शल्य से विरत, पंचसमिति सहित, सदा संयत, क्रोध नहीं करने वाले, अभिमान रहित को ब्राह्मण कहते हैं।"[4]

---

[1] उत्तराध्ययन १२ ६-७।

[2] उत्तराध्ययन १२।५।

[3] उत्तराध्ययन १२।१३-१५।

[4] सूयगडांग १ १६।२।

बौद्ध शास्त्रों में भी ब्राह्मण शब्द की संज्ञा मिलती है। यहाँ "धम्मपद" के छब्बीसवें "ब्राह्मणवग्गो" से कुछ उद्धृत किया जाता है, जिससे यह प्रतीत होगा कि जैन ग्रन्थों के समान बौद्ध शास्त्र भी ब्राह्मण शब्द की व्याख्या अपने मतानुकूल करते हैं।

"जो ध्यानी, निर्मल, आसनबद्ध (स्थिर), कृतकृत्य, आश्रव (चित्तमल) रहित है, जिसने उत्तम अर्थ (सत्य) को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" २६।४।

"जिसके मन, वचन, काया से दुष्कृत (पाप) नहीं होते, (जो इन तीनों ही स्थानों से संवर (संयम) युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" २६।६।

"न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म है वही शुचि है और वही ब्राह्मण है।" २६।११।

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मैं (किसी को) ब्राह्मण नहीं कहता, वह 'भोवादी' है, वह तो संग्रही है। मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।" २६।१४।

"जो अक्रोधी, व्रती, शीलवान, बहुश्रुत, संयमी (दान्त) और अन्तिम शरीर वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" २६।१८।

पाठक देखेंगे कि जैन व बौद्ध सम्प्रदाय जन्म मात्र से ही ब्राह्मणत्व स्वीकार नहीं करते हैं, परन्तु संयमी, सत्यवादी, अपरिग्रही, अक्रोधी ऐसे गुणयुक्त होने से ही ब्राह्मणत्व होना मानते हैं।

यह प्रतिद्वन्द्विता आगे चलकर और भी तीव्र हुई थी, ऐसा प्रतीत होता है। भगवान् महावीर के बाद दूसरी शताब्दी के जैन ग्रन्थ "कल्पसूत्र" में ब्राह्मण कुल को नीच दरिद्र कुलों के समपर्याय में वर्णन किया गया है व ऐसे कुलों में तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव उत्पन्न नहीं होते, ऐसा कहा गया है। यहाँ तक कि भगवान् महावीर का जीव ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न होने पर उन्हें वहाँ से दैवी शक्ति द्वारा संहरण करके क्षत्रियाणी के गर्भ में स्थापन करने का विवरण दिया गया है।

यह प्रतिद्वन्द्विता, इससे भी परवर्त्ती समय में, राजाओं की सहायता से चलाई गई थी। जिस समय में जिस सम्प्रदाय के राजा प्रबल होते थे, उस सम्प्रदाय का आदर और दूसरी सम्प्रदाय की अवहेलना होती थी, जैसे कि अशोक के समय में बौद्ध-सम्प्रदाय की और सम्प्रति के समय में जैन सम्प्रदाय की उन्नति और विस्तृति हुई थी।

मौर्य वंश के बाद जब शुंगवंशीय ब्राह्मणों का उपासक पुष्यमित्र पाटलीपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तो वह जैन व बौद्ध सम्प्रदाय के भिक्षुओं को प्रचण्ड कष्ट देने लगा, यहाँ तक कि बहुतों का प्राण-संहार तक कर लिया। इस महाभय से आक्रान्त होकर जैन व बौद्ध सम्प्रदाय के बहुत से भिक्षुक मगध राज्य छोड़कर भाग गये। इसका प्रतिशोध उस समय के कलिंग देशाधिपति महामेघवाहन जैन महाराजा 'खारवेल' ने दो दफा मगध की तत्कालीन राजधानी पाटलीपुत्र को अवरोध करके पुष्यमित्र को परास्त व पदावनत करके किया।[५] और भी परवर्त्ती काल में यह प्रतिद्वन्द्विता शंकराचार्य के विजय अभियान में प्रकाशित हुई थी, जिसके फलस्वरूप बौद्धधर्म को बड़ा भारी धक्का पहुँचा व उसका भारत से निर्वासित होने के कारणों में एक प्रधान कारण हुआ।

शंकराचार्य के समय के बाद यह प्रतिद्वन्द्विता क्रमशः प्रशान्त होने लगी क्योंकि विदेशी जाति का भारत पर आधिपत्य होने से ब्राह्मण और श्रमण दोनों सम्प्रदायों को समान रूप से कष्ट भोगना पड़ा और इसके फलस्वरूप पारस्परिक विरोध कम हो गया। आनन्द का विषय है कि आज बीसवीं शताब्दी के नवयुग में वह प्रतिद्वन्द्विता और भी कम होती जा रही है।

---

[५] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २०, अंक ४, पृ० ६१८-६३६।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

बल्मीक में जल डालने से जैसे उसमें से दीमक निकलती है उसी प्रकार उत्ताप से आतुर होकर मुनि के शरीर से कुष्ठ कृमि निकलने लगी। तब जीवानन्द ने चाँद जैसे अपनी चन्द्रिका से गगन को आच्छादित कर देता है उसी प्रकार मुनिदेह को रत्नकम्बल से आच्छादित कर दिया। रत्नकम्बल में शीतलता थी। इसीलिए शरीर से निकली हुई कुष्ठ कृमियों ने गरमी के दिन में दोपहर के समय मछलियाँ जैसे शीतलता के लिए शैवाल में आश्रय लेती हैं उसी प्रकार रत्नकम्बल में आश्रय लिया। तब उसने रत्नकम्बल को बिना हिलाए धीरे-से उठाकर उसकी समस्त कृमियों को उस मरी हुई गाय पर डाल दिया। कहते हैं सत्पुरुषों का समस्त कार्य अद्रोह ही प्रकाशित करता है। इसके पश्चात् जीवानन्द अमृत रस तुल्य जीव मात्र को प्राणदानकारी गोशीर्ष चन्दन का उनके सर्वांग में विलेपन कर दिया। इससे देह में प्रशान्ति आयी। इस प्रकार प्रथम चर्म के भीतर रहे हुए कीटों को निकाला। तदुपरान्त फिर शतपाक तेल का मर्दन किया। इससे उदानवायु से जिस प्रकार रस निकलता है उसी प्रकार मांस के भीतर से कृमियों को निकाला। पूर्व की भाँति ही रत्नकम्बल से उनकी देह आच्छादित की। इससे दो-तीन दिन के दधिकीट जिस प्रकार लाक्षारंजित वस्त्र में तैरने लगते हैं उसी प्रकार कुष्ठ कृमियां उस रत्न कम्बल में तैर कर आयीं। इस बार भी जीवानन्द ने उसे गाय के मृत शरीर पर डाल दिया। धन्य है वैद्य की यह चतुराई। पुनः जीवानन्द ने ग्रीष्मकाल पीड़ित हस्ती को जैसे मेघ शान्त करता है उसी प्रकार गोशीर्ष चन्दन के रस से मुनि को शान्त किया। इसके कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने लक्षपाक तेल मर्दन किया। इससे हाड़ों में रहे हुए कुष्ठ कीट निकल पड़े। कारण बलवान व्यक्ति यदि रोष करे तो वज्र निर्मित पिंजरा भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। वे कृमियाँ भी पूर्व की भाँति ही रत्नकम्बल में लाकर गाय पर फेंक दी गयीं। ठीक ही कहा है मन्द के लिए मन्द स्थान ही उपयुक्त रहता है। फिर उस वैद्य शिरोमणि ने परम भक्ति के साथ जिस प्रकार देवताओं की देह में विलेपन किया जाता है उसी प्रकार गोशीर्ष चन्दन का

रस मुनि के सर्वांग में विलेपन किया। इस चिकित्सा से वे मुनि नीरोग और कान्ति सम्पन्न हुए और मार्जित स्वर्णमूर्त्ति की भाँति शोभा सम्पन्न हुए। अन्त में उन मित्रों ने मुनि से क्षमा याचना की। मुनि भी वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गए। कारण वैसे साधु पुरुष कभी भी एक स्थान में नहीं रहते।

तत्पश्चात् उन्हीं बुद्धिमानों ने अवशिष्ट रत्न कम्बल और गोशीर्ष चन्दन विक्रय कर स्वर्ण खरीदा। और जिस स्वर्ण और अर्थ से वे गोशीर्ष चन्दन और रत्न कम्बल पहले क्रय करना चाहते थे उसी अर्थ और स्वर्ण से उन्होंने मेरू शिखर जैसे एक जिनालय का निर्माण करवाया। जिन प्रतिमा की पूजा और गुरु की उपासना कर उन्होंने कर्मक्षय करते हुए बहुत समय व्यतीत किये। तदुपरान्त एक दिन उनके मन में संवेग उत्पन्न हुआ। तब वे गुरु महाराज के सन्निकट जाकर जंबूवृक्ष के फल-सी दीक्षा ग्रहण कर ली। नवग्रह जिस प्रकार निर्दिष्ट समय तक अवस्थान कर एक राशि से दूसरी राशि में जाता है वे भी उसी प्रकार ग्राम, नगर एवं वन में निर्दिष्ट समय तक अवस्थित रहकर अन्यत्र विहार करने लगे। उपवास, छः दिन का उपवास, अट्ठाई आदि तपस्या द्वारा वे चारित्र रूपी रत्न को उज्ज्वल करने लगे। आहार देने वाले को कोई कष्ट नहीं हो इस प्रकार केवल प्राण धारण करने के लिए वे मधुकरी वृत्ति से पारने के दिन भिक्षा ग्रहण करते। वीर जैसे शस्त्र प्रहार सहन करते हैं वे भी उसी प्रकार धैर्य से क्षुधा, पिपासा, ग्रीष्मादि परिषह सहन करते। मोहराज के चार सेनापति रूप चार कषाय को उन्होंने क्षमा शस्त्र से जय कर लिया। फिर वे द्रव्य व भाव से संलेखना ग्रहण कर कर्म रूप पर्वत का नाश करने के लिए वज्र रूप अनशन व्रत ग्रहण किया। समाधि धारण कर पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। कहा ही गया है महात्माओं को अपनी देह से भी मोह नहीं होता।

दशम् भव

वे छहों महात्मा वहाँ की आयु शेष कर अच्युत नामक देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए क्योंकि, ऐसी तपस्या का फल सामान्य नहीं हो सकता। देवलोक का बाईस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर पुनः च्युत हुए कारण मोक्ष के अतिरिक्त कोई स्थान ही अच्युत नहीं।

एकादश भव

पूर्व विदेह के पुष्कलावती नामक विजय में लवण समुद्र के तट पर

पुण्डरिकिनी नाम का एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम था वज्रसेन। उनकी धारिणी नामक पत्नी के गर्भ से उनमें से पाँच पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। उन पाँच पुत्रों में जीवानन्द का जीव चौदह महास्वप्न सूचित वज्रनाभ नामक प्रथम पुत्र हुआ। राजपुत्र महीधर का जीव सुबाहु नाम का द्वितीय और मंत्री पुत्र सुबुद्धि का जीव तृतीय, श्रेष्ठीपुत्र पूर्णभद्र का जीव पीठ नामक चतुर्थ एवं सार्थवाह पुत्र पूर्णभद्र का जीव पंचम पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। केशव का जीव सुयश नामक अन्य राजपुत्र हुआ। सुयश बाल्यकाल से ही वज्रनाभ के सन्निकट रहने लगा क्योंकि पूर्व भव का स्नेह सम्बन्ध इस भव में भी प्रेम उत्पन्न करता है।

छः वर्षधर पर्वतों ने ही जैसे मनुष्य देह धारण कर रखा हो इस प्रकार वे पाँच राजपुत्र व सुयश क्रमशः बढ़ने लगे। वे महापराक्रमी राजपुत्र जब राजपथ पर अश्व धावित करते तो सूर्य पुत्र रेवन्त की भाँति लगते। कला शिक्षा देने वाले आचार्य तो साक्षी मात्र थे कारण महान् आत्माओं के गुण अपने से ही उत्पन्न होते हैं। वे स्व हाथों से बड़े-बड़े पर्वत को भी शिलाखण्ड की भाँति पकड़ लेते। इसलिए उनकी बाल-क्रीड़ाओं को करने में अन्य कोई भी सक्षम नहीं था।

एक दिन लोकान्तिक देव आकर वज्रसेन को बोले—"हे प्रभु! धर्म तीर्थ प्रवर्तन करिए, धर्म तीर्थ आरम्भ करिए।"

तब वज्रसेन ने वज्र की भाँति पराक्रमी पुत्र वज्रनाभ को सिंहासन पर बैठाकर एक वर्ष तक दान देकर लोगों को उसी प्रकार तृप्त किया जैसे मेघ वर्षा कर धरती को जलमय कर देता है। फिर देवता, असुर और मनुष्यों के अधिपति वज्रसेन की प्रव्रज्या ग्रहण उपलक्ष में एक शोभायात्रा निकाली। चन्द्रमा जैसे आकाश को सुशोभित करता है वज्रसेन ने भी उसी प्रकार नगर के बाहरी उद्यान को सुशोभित किया। वहाँ उन्होंने स्वयंबुद्ध दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ उन्हें मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर आत्म-स्वभाव में रमण करते हुए समताधारी, ममताहीन निष्परिग्रही वे नाना प्रकार के अभिग्रह धारण कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

उधर वज्रनाभ ने अपने प्रत्येक भाई को पृथक-पृथक राज्य दिया। वे चारों भाई उसकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। इससे लोकपालों से जैसे इन्द्र शोभा पाते हैं वैसे ही वे भी शोभा पाने लगे। अरूण जैसे सूर्य का सारथी

है उसी तरह सुयश उनका सारथी हो गया। [illegible]
सारथी बनाना उचित है।

बज्रसेन की घातिकर्म रूपी मलिनता दूर होने पर, दर्पण [illegible] से जिस प्रकार उज्ज्वल हो जाता है उसी प्रकार उज्ज्वल केवल [illegible] किया।

उसी समय बज्रनाभ राजा की आयुधशाला में सूर्य मण्डल को भी तिरस्कृत करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। साथ ही अवशेष तेरह रत्न भी प्राप्त हुए। कहा ही गया है—कमलिनी जैसे जलानुरूप ऊँची होती है सम्पत्ति भी पुण्य के अनुसार ही मिलती है। सुगन्ध से आकृष्ट होकर जैसे भ्रमरगण आते हैं उसी प्रकार प्रबल पुण्य से आकृष्ट होकर नवनिधि आकर उनके गृह में सेवा करने लगी।

फिर उन्होंने समस्त पुष्कलावती विजय को जय कर लिया। इससे वहाँ के समस्त राज्यगणों ने उन्हें चक्रवर्त्ती पद पर अभिषिक्त किया। भोगोपभोग उपभोगकारी राजा की धर्म बुद्धि भी इस प्रकार अधिकाधिक बढ़ने लगी जैसे वह बढ़ती हुई आयु की प्रतिस्पर्द्धा करती हो। अधिक जल में जैसे लता वर्द्धित होती है उसी प्रकार संसार वैराग्य की सम्पत्ति से उनकी धर्म बुद्धि भी बढ़ने लगी।

एक बार साक्षात् मोक्षरूप आनन्द उत्पन्नकारी भगवान वज्रसेन प्रव्रजन करते हुए वहाँ उपस्थित हुए। समवसरण में चैत्य वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने कानों के लिए अमृत तुल्य धर्म देशना देनी प्रारम्भ कर दी। उनके आगमन का संवाद पाकर सम्राट् वज्रनाभ राजहंस की भाँति बन्धु-बान्धवों सहित समवसरण में पहुँचे और सानन्द तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों की वन्दना कर इन्द्र के पीछे अनुज भ्राता की भाँति बैठ गए। फिर भव्य जीवों के मन रूपी सीप में बोध रूपी मुक्ता उत्पन्न करने वाली स्वाति नक्षत्र की वृष्टि के समान उनकी देशना श्रावक गण सुनने लगे। मृग जैसे गीत ध्वनि सुनकर उत्सुक होता है वे भी उसी प्रकार उनकी सुमधुर वाणी सुनकर सोचने लगे—यह संसार अपार समुद्र की भाँति दुस्तर है। इसे उत्तीर्ण कर मेरे पिता त्रिलोकनाथ बन गए हैं। पुरुष को अन्धकार की भाँति जो अन्ध करता है उस मोह को सूर्य की भाँति जिन्होंने सभी प्रकार से भेदा है वे यही जिनेश्वर हैं। चिरकाल संचित ये कर्म समूह महाभयंकर असाध्य रोग की भाँति है। इसके चिकित्सक मेरे पिता ही हैं। अधिक और क्या कहने को है? करुणा रूप अमृत सागर तुल्य ये ही दुःख नाशकारी और अद्वितीय सुख उत्पन्न

करने वाले हैं। इस प्रकार के जिनेश्वर देव के रहते हुए भी मैं मोह के द्वारा प्रमादी होकर लोक में जो प्रधान है उस स्व-आत्मा को धर्म से बहुत दिनों से वंचित रखा है।

इस प्रकार विचार करके उन चक्रवर्त्ती ने धर्म चक्रवर्त्ती केवली से भक्ति गद्‌गद् कण्ठ से निवेदन किया—"हे प्रभु, दूब जैसे खेत को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार अर्थ साधन प्रतिपन्नकारी नीतिशास्त्र ने मेरी बुद्धि को विनष्ट कर दिया है। विषय लोलुप होकर मैंने विभिन्न रूप धारण कर इस आत्मा को नट की भाँति दीर्घकाल तक नचाया है। मेरा यह साम्राज्य अर्थ और काम के लिए ही है। इसमें रहकर धर्म का जो अनुचिन्तन किया जाता है वह भी पापानुबन्धी ही होता है। मैं यदि आप जैसे पिता का पुत्र होकर भी संसार समुद्र में पथ-भ्रष्ट होता हूँ तो मुझमें और सामान्य मनुष्य में अन्तर ही क्या है? इसलिए मैंने जिस प्रकार आप द्वारा प्रदत्त राज्य का पालन किया उसी प्रकार अब आप संयमरूपी राज्य मुझे दीजिए मैं उसका पालन करूँगा।"

अपने वंश रूपी आकाश में सूर्य समान चक्रवर्त्ती वज्रजंघ ने अपने पुत्र को राज्य देकर भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली। पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता ने जो व्रत ग्रहण किया वही व्रत सुबाहु आदि भाइयों ने भी ग्रहण कर लिए। कारण उनकी कुलरीति यही थी। सुयश सारथी ने भी अपने प्रभु के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। सेवक प्रभु का अनुकरणकारी ही होता है।

वज्रनाभ मुनि ने अल्पदिनों के मध्य ही शास्त्र समुद्र अतिक्रमण कर लिया। इसलिए वे एक अंग शरीर में प्रत्यक्ष द्वादशांगी तुल्य लगने लगे। सुबाहु आदि अन्य भाइयों ने ग्यारह अंग अधिगत कर लिए। ठीक ही कहा गया है—क्षयोपशम से प्राप्त विचित्रता के लिए गुण सम्पत्ति भी विचित्र होती है। यद्यपि वे सन्तोष रूपी धन से धनी थे फिर भी वे तीर्थंकर भगवान की चरण सेवा रूप दुष्कर तप करने पर भी असन्तुष्ट थे। एक मास से अधिक तपस्या होने पर भी वे निरन्तर तीर्थंकर की वाणी रूप अमृत का पान करने में कभी ग्लानि अनुभव नहीं करते। भगवान वज्रसेन ने उत्तम शुक्ल ध्यान में निर्वाण पद प्राप्त किया। देवताओं ने उनका निर्वाणोत्सव मनाया।

वज्रनाभ मुनि धर्म भ्राता की भाँति अपने साथ दीक्षित मुनियों के साथ पृथ्वी पर विचरण करने लगे। अन्तरात्मा से जैसे पाँच इन्द्रियाँ सनाथ होती हैं उसी प्रकार, वज्रनाभ स्वामी के द्वारा बाहु आदि चार भाई और सारथी पाँचों मुनि सनाथ हो गए। चन्द्र की चन्द्रिका से जैसे पर्वत पर औषधि

प्रकट होती है वैसे ही योग के प्रभाव से उनमें निम्न योग शक्तियाँ प्रकट हुईं—

१ श्लेषमौषधि लब्धि—ऐसी लब्धि सम्पन्न मुनि का सामान्य थूक यदि कुष्ठरोगाक्रान्त व्यक्ति के शरीर में लेपन कर दे तो कोटि-रस से (सुवर्ण तैयार करने का रस) जैसे ताम्र सुवर्ण वर्ण हो जाता है वैसे ही उसका शरीर स्वर्ण कान्तिमय हो जाता है।

२ जल्लौषधि लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न मुनि के कान का मैल, आँख की गीड और देह का मैल समस्त रोगों को नाश करने वाला और कस्तूरी की भाँति सुगन्ध युक्त होता है।

३ आमर्शौषधि लब्धि—अमृत स्नान से जैसे रोगी का रोग दूर हो जाता है उसी प्रकार ऐसे लब्धि सम्पन्न मुनि के शरीर स्पर्श से समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

४ सर्वौषधि लब्धि—वृष्टि या नदी का जल ऐसे लब्धि सम्पन्न मुनि का शरीर स्पर्श करने से सूर्य का तेज जैसे अन्धकार को नष्ट करता है उसी प्रकार समस्त रोगों को नष्ट करता है। गन्ध हस्ती की मद गन्ध से जैसे अन्य हस्तीगण भाग जाते हैं उसी प्रकार उनका शरीर स्पर्शकारी पवन विष आदि का समस्त दोष दूर कर देता है। यदि विष मिश्रित अन्नादि पदार्थ उनके मुख या पात्र में आ जाए तो वह भी अमृत की भाँति निर्विष हो जाता है। विष उतारने के मन्त्राक्षरों की भाँति उनकी वाणी के स्मरण से महाविष से दुःखग्रस्त मनुष्य का दुःख दूर हो जाता है और स्वाति नक्षत्र में जल शुक्ति में पड़ने पर जिस प्रकार का मोती बनता है उनके नख केश दाँत और उनके शरीर में उत्पन्न समस्त वस्तु औषधि सम हो जाती है।

५ अणुत्व शक्ति—सूत की भाँति सूई के छिद्र में से शरीर को ये बाहर कर सकते हैं।

६ महत्व शक्ति—इससे अपनी देह इतनी बड़ी की जा सकती है कि मेरू पर्वत उसके घुटनों तक आ सकता है।

७ लघुत्व शक्ति—इससे देह को वायु से भी हल्का किया जा सकता है।

८ गुरुत्व शक्ति—इन्द्रादि देव भी जो सहन नहीं कर सकते ऐसा वज्र से भी भारी देह बना लेने की शक्ति।

९ प्राप्ति शक्ति—पृथ्वी पर से ही वृक्ष पत्र की भाँति मेरू के अग्रभाग एवं ग्रहादि को स्पर्श करने की शक्ति।

१० प्राकाम्य शक्ति—जल पर धरती की भाँति चलने एवं धरती में जल की भाँति निमज्जित हो जाने की शक्ति।

११ ईशत्व शक्ति—चक्रवर्त्ती और इन्द्र के जैसे वैभव विस्तार करने की शक्ति।

१२ वशित्व शक्ति—स्वतन्त्र एवं क्रूरतम प्राणी को भी वश में कर लेने की शक्ति।

१३ अप्रतिघाती शक्ति—पर्वत के मध्य से छिद्र में से निकलने की तरह निकलने की शक्ति।

१४ अप्रतिहत अन्तर्धान शक्ति—वायु की भाँति सर्वत्र अदृश्य रूप धारण करने की शक्ति।

१५ *कामरूपत्व शक्ति—एक ही समय में अनन्त रूप बनाकर समस्त लोक को* भर देने की शक्ति।

१६ बीज बुद्धि—एक बीज से जैसे अनेक बीज उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार एक अर्थ से बहुविध अर्थ करने की शक्ति।

१७ कोष्ठ बुद्धि—कोष्ठ में रखा हुआ धान जैसे यथावत रहता है उसी प्रकार स्मरण करे बिना ही पूर्व श्रुत विषय को स्मृति में धारण करने की शक्ति।

१८ पदानुसारिणी लब्धि—आदि, अन्त व मध्य का कोई भी पद सुनकर समस्त ग्रन्थ अवधारण करने की शक्ति।

१९ मनोबल लब्धि—किसी एक विषय से अवगत होते ही समस्त आगम साहित्य अवगाहन करने की शक्ति।

२० वागबल लब्धि—मूहूर्त्त मात्र में मूलाक्षर की भाँति समस्त आगम साहित्य की आवृत्ति कर लेने की शक्ति।

२१ कायबल लब्धि—इससे बहुत समय तक कायोत्सर्ग कर प्रतिमा धारण करने पर भी क्लान्ति का लवलेश मात्र नहीं आता।

२२ अमृतक्षीरमध्वाज्याश्रवि लब्धि—इससे पात्र में परिवेशित कुत्सित कदन्न में भी अमृत, क्षीर, मधु, घी का आस्वाद उत्पन्न करने की शक्ति। ऐसे लब्धि सम्पन्न की वाणी दुःख पीड़ित मनुष्य के लिए अमृत, क्षीर, मधु, घी की भाँति शान्ति दायक होती है।

२३ अक्षीण महानसी लब्धि—पात्र स्थित अन्नादि का कितना ही दान क्यों न दिया जाए वह पूर्ववत् ही रहेगा शेष नहीं होगा।

२४ अक्षीण महालय लब्धि—इस शक्ति बल से तीर्थंकर सभा की भाँति अल्प स्थान में असंख्य प्राणियों को बैठाने की शक्ति।

२५ संभिन्न श्रोत लब्धि—इसके द्वारा एक इन्द्रिय का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय द्वारा किया जाना संभव।

२६ जंघाचारण लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति एक ही पदक्षेप में जम्बूद्वीप से रुचक द्वीप जा सकता है। और लौटने के समय एक पदक्षेप में नन्दीश्वर द्वीप और द्वितीय पदक्षेप में जहाँ से उसने यात्रा की थी उसी जम्बूद्वीप में लौटकर आ सकता है। यदि ऊपर की ओर जाना हो तो एक पदक्षेप में मेरु पर्वत स्थित पाण्डुक-वन में जा सकता है। लौटते समय एक पदक्षेप में नन्दनवन और द्वितीय पदक्षेप में जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी वहीं लौटकर आ सकता है।

२७ विद्याचरण लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति एक पदक्षेप में मानुषोत्तर पर्वत और द्वितीय पदक्षेप में नंदीश्वर द्वीप और तृतीय पदक्षेप में जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी वहाँ लौटकर आ सकता है। यदि ऊपर की ओर जाना हो तो मध्यलोक के अनुरूप यातायात कर सकता है।

ये समस्त लब्धियाँ वज्रजंघादि मुनियों को प्राप्त थीं। इसके अतिरिक्त आसीविष लब्धि, क्षतिकारक, लाभदायक और भी कई लब्धियाँ उन्होंने प्राप्त की थी। किन्तु इन सब लब्धियों का व्यवहार उन्होंने कभी नहीं किया। सत्य तो यही है कि जो मुमुक्षु है वह प्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, उनका व्यवहार नहीं करता।

वज्रनाभ स्वामी ने बीस स्थानक की आराधना कर दृढ़ तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया। बीस स्थानक का विवरण निम्न प्रकार है—

१ अरिहंत पद—अरिहंत और अरिहंत मूर्त्ति की पूजा करने पर, अरिहंत देवों की अर्थयुक्त स्तुति करने पर और जहाँ उनकी निन्दा हो उसका निराकरण करने पर अरिहंत पद की आराधना होती है।

२ सिद्ध पद—सिद्धि प्राप्त सिद्ध भगवन्तों की भक्ति में रात्रि जागरणादि उत्सव करने पर, यथार्थ रीति से सिद्धता का कीर्तन, भजन करने पर सिद्धपद की आराधना होती है।

३ प्रवचन पद—बालक, अस्वस्थ, नवदीक्षित शिष्यादि यतियों पर अनुग्रह

करने पर, प्रवचन अर्थात् चतुर्विध संघ व जैन शासन पर वात्सल्य स्नेह रखने पर प्रवचन पद की आराधना होती है।

४ आचार्य पद—समादर के साथ आहार, औषध, वस्त्रादि द्वारा गुरु के प्रति वात्सल्य या भक्ति दिखाने पर इस पद की आराधना होती है।

५ स्थविर पद—२० वर्ष पर्यन्त दीक्षा पर्याय सम्पन्न को पर्याय स्थविर, साठ वर्ष की वयः सम्पन्न को वयः स्थविर और समवायांग सूत्र ज्ञाता को सूत्र स्थविर कहा जाता है। इनकी भक्ति करने से इस पद की आराधना होती है।

६ उपाध्याय पद—अपने से अधिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को अन्न वस्त्रादि देकर उनके प्रति वात्सल्य भाव प्रदर्शित करने पर इस पद की आराधना होती है।

७ साधु पद—उत्कृष्ट तपस्याकारी साधुओं की भक्ति करने पर, उन्हें सुख-सुविधा देकर उनके प्रति वात्सल्य दिखाने से इस पद की आराधना होती है।

८ ज्ञान पद—प्रश्न और वाचनादि द्वारा द्वादशांग श्रुतों का अध्यापन करने पर इस पद की आराधना होती है।

९ दर्शन पद—शंका आदि दोष रहित स्थिरता आदि गुण भूषित और शमादि लक्षणयुक्त सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१० विनय पद—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार—इस प्रकार के चार कर्मों के अनुष्ठाता विनय सम्पन्न होने से इस पद की आराधना होती है।

११ चारित्र पद—इच्छा-मिथ्या-करणादि दस प्रकार के समाचारी योग और आवश्यक योग कर्म में अतिचार रहित होकर यत्न करने पर चारित्र पद की आराधना होती है।

१२ ब्रह्मचर्य पद—अहिंसादि मूल गुण और समिति आदि उत्तर गुण में अतिचार रहित होकर प्रवृत होने से इस पद की आराधना होती है।

१३ समाधि पद—प्रति मुहूर्त्त प्रतिक्षण प्रमाद परिहार कर शुभ ध्यान में लीन होने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१४ तप पद—मन और शरीर को जिससे कष्ट न पहुँचे इस प्रकार यथाशक्ति तपस्या करने पर इस पद की आराधना होती है।

१५ दान पद—मन, वचन और काय शुद्धि पूर्वक [illegible] दान देने पर इस पद की आराधना होती है।

१६ वैयावृत्य पद—आचार्यादि दस प्रकार के मुनियों की [illegible] द्वारा भक्ति करने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१७ संयम पद—चतुर्विध संघ के समस्त विघ्न दूर कर सन्तोष उत्पन्न [illegible] पर इस पद की आराधना की जाती है।

१८ अभिनव ज्ञान पद—प्रतिदिन नवीन-नवीन सूत्र और अर्थ प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१९ श्रुत पद—श्रद्धा से श्रुत ज्ञान का स्पष्टीकरण, प्रकाशन और निन्दावाद का निराकरण करने पर इस पद की आराधना होती है।

२० तीर्थ पद—विद्या, निमित्त, कविता, वाद और धर्म कथाओं द्वारा शास्त्र का प्रचार करने पर इस पद की आराधना होती है।

इन बीस पदों में एक-एक पद की आराधना भी तीर्थंकर नाम कर्म बंधन का कारण बनती है। किन्तु वज्रनाभ मुनि ने तो इन बीसों ही पद की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म बाँधा।

बाहुमुनि ने साधुओं की सेवा कर चक्रवर्त्ती के भोगोपभोग प्राप्त होने का कर्म बन्धन किया।

तपस्वी मुनियों के विश्रामणा अर्थात् सेवा सुश्रुषा कर सुबाहु ने अमित बाहुबल लाभ करने का कर्म बन्धन किया।

वज्रनाभ मुनि तब बोले—बाहु और सुबाहु ही धन्य हैं जो साधुओं की सेवा और वैयावच्च करते हैं।

इस प्रशंसा को सुनकर पीठ और महापीठ मुनिद्वय ने सोचा—जो लोगों का उपकार करते हैं लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। हम दोनों तो आगम के अध्ययन व ध्यान में निमग्न रहे इसलिए किसी का कोई उपकार नहीं कर सके अतः हमारी प्रशंसा कौन करे? मनुष्य उसी को सम्मान देता है जो उनका उपकार करता है।

इस प्रकार माया मिथ्यात्व के लिए ईर्ष्या कर एवं इस मन्द कर्म की आलोचना न कर उन्होंने स्त्री नाम कर्म का बन्धन किया।

इन छः महर्षियों ने चतुर्दश लक्ष पूर्व तक अतिचारहीन अतिचारा सा संयम पालन किया। फिर उन छहों वीर मुनियों ने दो प्रकार की संलेखना-पूर्वक पादोपगमन अनशन अंगीकार कर देह परित्याग किया।

द्वादश भव

वे छहों ही सर्वार्थसिद्धि नामक पंचम अनुत्तर विमान में तैंतीस सागरोपम की आयु वाले देव हुए।

प्रथम सर्ग समाप्त

द्वितीय सर्ग

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में शत्रु के द्वारा जो कभी विजित नहीं हुआ ऐसा अपराजिता नामक एक नगर था। उस नगर में ईशान चन्द्र नामक एक राजा राज्य करता था। उसने अपने बाहुबल से जगत को पराजित कर दिया था। अपने विशाल ऐश्वर्य के कारण वे ईशानेन्द्र से प्रतीत होते थे।

उस नगर में चन्दन दास नामक एक श्रेष्ठी रहते थे। वे बहुत धनाढ्य थे। वे धर्मात्माओं में अग्रणी और पृथ्वी को सुखी बनाने में चन्दन की भाँति थे।

उनके सागर चन्द्र नामक एक पुत्र था। उन्हें देखकर सभी प्रसन्न हो उठते। समुद्र जिस प्रकार चन्द्रमा को आनन्दित करता है वैसे ही वह अपने पिता को आनन्दित करता था। स्वभाव से वह सरल, धार्मिक और विवेकी था। इसलिए वे समस्त नगरी के तिलक स्वरूप थे।

एक दिन सागर चन्द्र राज सभा में गए। वहाँ राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनकी सेवा में उपस्थित सामन्त भी यथास्थान बैठे थे। राजा ने सागरचन्द्र को भी उसके पिता की ही भाँति आसन, ताम्बूल आदि देकर सत्कार और स्नेह प्रदर्शित किया।

उसी समय एक चारण राजसभा में आया और शंख-विनिन्दित कण्ठ में बोला—"महाराज, आज आपके उद्यान को उद्यान पालिका की भाँति पुष्प संभार से सुशोभित कर बसन्त लक्ष्मी का अविर्भाव हुआ है। इसलिए प्रस्फुटित पुष्प सुगन्ध से दिगआमोदितकारी उस उद्यान को इन्द्र जिस प्रकार नन्दनवन को सुशोभित करता है उसी प्रकार आप भी सुशोभित कीजिए।"

चारण की बात सुनकर राजा ने द्वारपाल को आदेश दिया कि नगर में घोषणा करवा दो कल प्रातः सभी राजोद्यान में आएँ। फिर उन्होंने सागर चन्द्र से कहा—"तुम भी कल सुबह उद्यान में आना।" स्नेह इसी प्रकार अभिव्यक्त होता है।

राजा से विदा लेकर सागर चन्द्र आनन्दित मन से घर लौटा और अपने मित्र अशोक दत्त को राजा का आदेश सुनाया।

दूसरे दिन प्रातः राजा सपरिवार उद्यान में गए। नगरजन भी वहाँ

उपस्थित हुए। प्रजा तो राजा का ही अनुकरण करती है। जैसे मलय पवन सहित बसन्त ऋतु का आगमन होता है वैसे ही सागर चन्द्र निज मित्र अशोक दत्त के साथ उद्यान में पहुँचा। वहाँ सभी कामदेव के अधीन होकर पुष्प आहरण कर नृत्य गीतादि क्रीड़ा करने लगे। स्थान-स्थान पर क्रीड़ारत जनता कामदेव के अनुचरों की भाँति ही लग रही थी। पद-पद पर गीत और वाद्य ध्वनि इस प्रकार उत्थित हो रही थी मानो वे अन्य इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही उत्थित हो रही हों।

उसी समय समीप के ही किसी वृक्ष के अन्तराल से स्त्री कण्ठ से निसृत ध्वनि 'रक्षा करो, रक्षा करो' सुनायी पड़ी। सुनते ही सागरचन्द्र उस ओर दौड़ा। वहाँ जाकर देखा—बाघ जिस प्रकार हरिणी का गला पकड़ लेता है उसी प्रकार दुष्ट लोगों ने पूर्णभद्र श्रेष्ठी की कन्या प्रियदर्शना को पकड़ रखा है। सागरचन्द्र ने उनमें से एक के हाथ से छूरा उसी प्रकार छीन लिया जिस प्रकार साँप का गला पकड़ कर मणि बाहर कर ली जाती है। उसकी इस साहसिकता को देखकर सभी दुष्ट भाग छूटे। जलती हुई आग को देखकर तो बाघ भी भाग जाता है।

सागरचन्द्र ने प्रियदर्शना को इस प्रकार मुक्त कर दिया जैसे आम्रलता को लकड़हारों के हाथों से मुक्त किया जाता है। उस समय प्रियदर्शना सोचने लगी—परोपकार ही जिनका व्यसन है उनमें अग्रणी ये कौन हैं? यह अच्छा ही हुआ कि मेरे भाग्य से आकृष्ट होकर ये सत्पुरुष यहाँ आए। कामदेव से रूपवान ये ही मेरे पति बने। ऐसा सोचती हुई वह घर लौट गयी। सागरचन्द्र भी जिस प्रकार मूर्त्ति स्थापित की जाती है उसी प्रकार प्रियदर्शना की मूर्ति अपने हृदय मन्दिर में स्थापित कर मित्र अशोक दत्त के साथ अपने घर की ओर चला।

[क्रमशः

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

कुशल निर्देश ।। फरवरी १९८२

इस अंक में है 'योगीन्द्र युगप्रधान सद्गुरु श्री सहजानंदघनजी महाराज का श्री आनंदघनविजयजी को दिया पत्र' (अनु० भँवरलाल नाहटा), 'मनुष्य अनाथ है' (मुनि ललितप्रभ सागर), 'मुक्ति जीव का धर्म है' (जयचन्द्र जैन), 'बिना विवेक की क्रियाएँ' (सूरजराज धाड़ीवाल) ।

श्रमण ।। फरवरी १९८२

इस अंक में है 'जैन धर्म में आत्म तत्त्व निरूपण' (प्रो० रामदेव राम 'यादव'), 'जैन भिक्षुणी-संघ और उसमें नारियों के प्रवेश के कारण' (अरुण कुमार सिंह), 'भगवान श्री अजितनाथ' (भूरचन्द जैन) ।

हीरक जयन्ती स्मारिका ।। १९८१

श्री जैन बाला विश्राम, आरा

इस स्मारिका में है 'श्री जैन बाला विश्राम का संरम्भ तथा स्थापना' (पं० ब्रजबाला देवी जैन), 'नारी कल्याण का जीवन्त रूप' (डा० ज्योति प्रसाद जैन), 'नारी की संस्कारशाला जैन बाला विश्राम' (आर्यिका श्री आदिमती माता जी), 'श्री जैन बाला विश्राम के ६० वर्ष' (सुबोध कुमार जैन), '२० वीं सदी का आदर्श आश्रम' (एम० के० कापड़िया) व अन्य लेख ।

Vol. V No. 11 : Titthayara : March 1982
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture

for

Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD

CALCUTTA-700001